

आचार्य विद्यासागर जी कृत "भावनाशतक" : एक दार्शनिक गवेषणा

डॉ. आनन्द कुमार जैन

(राष्ट्रपति सम्मानित)

असिस्टेंट प्रोफेसर

जैन-बौद्धदर्शन विभाग

काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Mo-09571660887

Email : anandjain2007@gmail.com

विवेकी पुरुष जब शील का निरतिचार पालन करता है तब वह अनायास ही अंतरंग में समग्र जीवों के कल्याण की उत्कट भावना से ओतप्रोत होता है। जीव कल्याण की भावना में आत्म कल्याण की भावना भी गर्भित है। यद्यपि इस कल्याण की भावना में व्यक्ति स्वयं के प्रति निर्मोही होता है और संसार के अन्य समस्त प्राणियों के प्रति मन में करुणाभाव को समेटे हुए होता है। जब जीव स्वयं को तिलांजलि देकर समस्त संसार के दुःखी, पीड़ित जीवों को देखकर उनके कल्याण हेतु सदैव चिंतनरत होता है और निरंतर अपनी भावना को विशुद्ध करते हुए उस भावना को तीन लोक में व्याप्त जीवों तक पहुंचाने की चेष्टा करता है, उसी भावना को जैनदर्शन में **षोडशकारण भावना** की संज्ञा से संबोधित किया गया है। षोडशकारण भावना में ऐसी 16 भावनाओं का चिंतन है, जिसमें समस्त संसारी जीवों के कल्याण का चिंतन छुपा हुआ है। इन सोलहकारण भावनाओं के नाम इस प्रकार हैं-

१. दर्शनविशुद्धि २. विनयसम्पन्नता ३. शीलव्रतेश्वनतिचार ४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ५. संवेग
६. शक्तितस्त्याग ७. शक्तितस्तप ८. साधुसमाधि ९. वैयावृत्यकरण १०. अर्हदभक्ति
११. आचार्यभक्ति १२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचनभक्ति १४. आवश्यक अपरिहाणि
१५. मार्गप्रभावना १६. प्रवचनवत्सलत्व।

परन्तु षट्खण्डागम ग्रंथ में इन भावनाओं के नामों में कुछ अन्तर है, जो कि इस प्रकार है-

१. दर्शनविशुद्धता २. विनयसम्पन्नता ३. शीलव्रतों में निरतिचारता ४. छह आवश्यकों में परिहीनता
५. क्षणलवप्रतिबोधनता ६. लब्धिसंवेग सम्पन्नता ७. यथाशक्तितथातप ८. साधुओं के लिए प्रासुक
परित्यागता ९. साधुओं की समाधिसंधारण १०. साधुओं की वैयावृत्य योगयुक्तता ११. अरिहंत भक्ति
१२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचनभक्ति १४. प्रवचन वत्सलता १५. प्रवचनप्रभावनता १६. अभीक्ष्ण
ज्ञानोपयोग।

षोडशकारण भावनाओं के चिंतन से प्राणी तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लेता है, तीर्थकर प्रकृति के बंध के उपरांत जब जीव के उस तीर्थकर प्रकृति का उदय होता है तब इस कर्म प्रकृति के अद्भुत प्रभाव से न केवल वह जीवात्मा पूर्णता का अनुभव करता है अपितु असंख्य जीवों को दिव्यध्वनि के माध्यम से संसार के असारमय स्वभाव को समझाकर सद्मार्ग में लाने का एक अनूठा प्रयास करता है और इस मंगलमय दिव्यदेशना को सुनकर असंख्य जीवों का कल्याण होता है। कई जन्मों की सद्भावना के प्रतिफल स्वरूप इस तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। इस कर्म-प्रकृति की भावना को भाना कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि जिन जीवों के कल्याण की भावना इसमें भायी जाती है, उस भावना में संसार के समस्त प्राणियों का भी समावेश करना होता है, जिन्होंने कभी उस जीव का अकल्याण किया हो या वर्तमान में अकल्याण कर रहा हो या भविष्य में कभी कोई अप्रशस्त घटना उस व्यक्ति के माध्यम से भी जीवन में घटित हो सकती है। इतना विशाल हृदय करते हुए जब प्राणी स्वयं को कष्ट देनेवाले से लेकर निरीह, मूक जीवों की भी अंतरंग भाव से चिंता करता है तब कहीं तीर्थकर प्रकृति का बंध लोक व्यवहार की दृष्टि से मान सकते हैं, अंतरंग कारण तो कर्मजन्य ही मानना चाहिए। इस सद्भावना की साधना अंतरंग और बहिरंग में समान रूप से चलती है, यद्यपि जब जीव साधना में तल्लीन होता है तब उस अंतरंग की ज्वाला में बाह्य कष्ट नगण्य हो जाते हैं अर्थात् आत्मा में स्थित जीव बाह्य जगत् की अनुभूति से मुक्त हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि स्वयं द्वारा की गई साधना का फल जीव स्वयं तो प्राप्त करता ही है और उसी साधना के बल पर वह तीर्थकर प्रकृति का बंध करके पर जीवों के भी कल्याण में साक्षात् और परोक्ष रूप से निमित्त कारण बन जाता है।

इसी भावना को अंतरंग में समाहित करते हुए इस सदी के सर्वश्रेष्ठ साधक आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा रचित संस्कृत शतकों के संग्रह षट्शती में "भावनाशतकम्" नामक लघुग्रंथ षोडशकारण भावनाओं पर आधारित एक काव्य रचना है, जिसे आचार्यश्री ने राजस्थान के सुप्रसिद्ध तीर्थ श्रीमहावीर जी की पवित्र धरा में अंतिम रूप दिया था। यह लगभग आज से 45 वर्ष पूर्व रची गई काव्यात्मक मंजरी है, जिसके

आस्वादन से संसारस्थ जीवों की कल्याण की भावना करनेवाला प्रत्येक साधक लाभान्वित होगा। कवि ने बाल्यकाल से ही व्युत्पन्नमति होने का परिचय देते हुए बाल्यकाल में ही तत्त्वार्थसूत्र कंठस्थ कर लिया था और इसी कारण गुरु आ. ज्ञानसागर जी महाराज से इन्होंने अल्प समय में ही अनेक ग्रंथों का अध्ययन करके स्वयं को पूर्णतया साधना में रत कर दिया। भाषा और दर्शन के गंभीर वेत्ता होने के कारण "भावनाशतक" में इसका अद्भुत संगम दिखता है। भाषा की वल्लरी में दर्शन की मुक्ताओं को पिरोने वाले व्यक्तित्व को दार्शनिक, भाषाविद्, साहित्य-सेवी और अध्यात्म-प्रेमी अपने-अपने दृष्टिकोण से समृद्ध पाते हैं किंतु इस ग्रंथ की रचना का अंतिम उद्देश्य मोक्ष वधू का वरण करना है।

111 श्लोकों में निबन्ध यह काव्यशतक दर्शनविशुद्धि आदि 16 भावनाओं पर आधारित है। यद्यपि कवि दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रांत के सदलगा ग्राम में जन्मे हैं, किंतु दीक्षापूर्व आपका अध्ययन आ. ज्ञानसागर महाराजश्री के सान्निध्य में राजस्थान प्रांत में हुआ था, जिसके फलस्वरूप संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, हिंदी आदि भाषाओं का भी अल्प समय में ही अच्छा अभ्यास हो गया। आचार्यश्री ने अपने अगाध ज्ञान के बल पर "भावनाशतक" का सृजन किया, जिसके प्रथम ही श्लोक में मंगल स्वरूप अरिहंत परमेष्ठी का स्तवन कर त्रिकाल वंदन किया है।

साधव इह समाहितम्, नमन्ति सतां समाधृतसमाहितम् ।

कुर्वन् हृदि समाहितं, गुरुवर तमहमपि वन्दे समाहितम् ॥१॥ भा. श.

इस मंगलाचरण का वैशिष्ट्य दार्शनिक-दृष्टि पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है, कि यह शतक षोडशकारण भावनाओं पर आधारित है, जिसके कारण जीव तीर्थकर प्रकृति का बंध करता है, अतएव मंगलाचरण में सिद्ध परमेष्ठी के स्थान पर अर्हत परमेष्ठी को नमन किया गया है, क्योंकि तीर्थकर प्रकृति की सार्थकता इसी तथ्य से है कि जब जीव आत्मध्यान के बल पर चार घातिया कर्मों का नाश करके अर्हत पद को प्राप्त कर लेता है, उसी क्षण उसके तीर्थकर प्रकृति का भी उदय हो जाता है और तीर्थकर जीव की अनंतानंत जीवों पर करुणा बुद्धि होने से दिव्यदेशना के द्वारा वे उन सभी जीवों के लिए परम उपकारी वचन बोलते हैं। अतः कवि ने तीर्थकर प्रकृति को सार्थक करने वाले अर्हत परमेष्ठी के पद को यहां मंगल रूप में स्मरण किया है।

तत्पश्चात् कवि की अपने गुरु में जो अगाध श्रद्धा है, उन पूज्य गुरुदेव आ. ज्ञानसागर जी महाराज को श्रद्धापूर्वक स्मरण कर उनके चरणों में अपना विनीत भाव प्रकट किया है।

सधृतरत्नत्रयशरं, गुरो! ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम्।

त्वां पीतानुभवशरं, यजेऽमुं शमय मेऽनाश! रम् ॥२॥ भा. श.

सम्यक्त्व मोक्ष का प्रथम सोपान है, इसकी प्राप्ति के उपरांत शेष मार्ग की प्राप्ति सहज और सुगम हो जाती है। दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। मोहनीय कर्म के सद्भाव में जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कथमपि संभव नहीं है, अतः पांच लब्धियों की प्राप्ति के पश्चात् जो जीव मोहनीय भाव को दबाकर या क्षय करके आगे बढ़ता है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ¹।

विश्व में कई करुणावान् जीव देखने में आते हैं, किंतु क्या पात्र-अपात्र के विवेक के बिना की गयी करुणा कार्यकारी होती है? इस तथ्य पर विचार करके करुणा का सम्यक्त्व की सहगामिनी होना नितांत आवश्यक है, जिसके विषय में कवि लिखते हैं कि सम्यग्दृष्टि एक विचारवान् पुरुष का सूचक है, जो करुणाभाव को संजोये होता है। किंतु जिसके मन में करुणाभाव हो और सम्यक्त्व से विरहित हो ऐसा व्यक्ति उस करुणा के सदुपयोग को समझने में असमर्थ होने से कदाचित् अविवेकी पुरुषवत् कार्य कर सकता है, अतः करुणाभावी जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा करुणा का विवेकपूर्ण प्रयोग करने में सफल होता है ², साधक के लिए साधना काल में 'निदान' एक ऐसा कंटक है जो साधक को उन्मार्गी कर देता है-

विराधनं न राधनं, निदानमस्य केवलं नरा धनम् ॥४॥ भा. श.

ऐसे निदान रूपी कंटक से साधक को सदैव बचना चाहिए, क्योंकि निदान सांसारिक आकांक्षाओं का वास है, जो पुनः अनंत संसार को बढ़ाता है। साधक की साधना का प्रारंभ सम्यक्त्व के साथ होता है, किंतु इस आरंभ को ही अंत मानकर जो आगे बढ़ने का प्रयास छोड़ देते हैं, उन्हें निश्चित ही बाह्य क्रियाओं में ही धर्म मानने के कारण दुख का ही अनुभवन करता पड़ता है ³। अतः विवेकवान् को सम्यक्त्व के बाद आचरण को भी धारण करना चाहिए।

गंभीरता से विचार करें तो साधना के बल पर साधक केवलज्ञान प्राप्त करता है। उस अक्षयनिधि के बदले वह 'निदान' द्वारा संसार की तुच्छ वस्तुओं की आशा करता है और बाद में उन्हीं भोगों में फंस कर वह दुर्गतियों का पात्र बनता है। ऐसे में जिस दर्शनविशुद्धि रूपी सूर्य से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती हो उससे

¹ भा. श. 6

² भा. श. 7

³ भा. श. 8

सांसारिक भोग-विलास की सामग्रियों की इच्छा करना कहां तक उचित है⁴ ? इसी श्लोक के हिंदी पद्यानुवाद में आ.विद्यासागर जी लिखते हैं-

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती, है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।।

है पाप रूप तम को क्षण में मिटाती, ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती।।10।। भा. श.

कवि कार्य-कारण के सिद्धांत को समझ कर यह निश्चित कर लेते हैं कि कर्म की अग्नि से पीड़ित व्यक्ति क्या संसार-अनल का आह्वान करेगा ? अर्थात् नहीं। वह जीव तो धर्मरूपी जल से स्नान करके अंतरंग वेदना को समाप्त करेगा।

न मयाऽकं न नपावनं, विनयो यियासुनार्च्यते पावनम्।

मुक्त्वा सुधीः, कोऽटेद् ग्रीष्मार्तः पावनम्।।11।। भा. श.

जैसे ही मनुष्य का मन-मस्तिष्क दर्शन की विशुद्धि से संपन्न होता है, वैसे ही उसके अंतरंग में विनयभाव प्रकट हो जाता है। विनय की संपन्नता से वह शीघ्र ही आत्मसंपदा से संपन्न हो जाता है और सांसारिक सुख उसे तुच्छ प्रतीत होते हैं-

एतद्वहता गमितं, ह्यनन्तिन्तं पापं सम्यगमितम्।।

स्वमूल्यं येन गमितं, तस्मै कं किं नाङ्ग मितम्।।13।। भा. श.

विनयशील व्यक्ति स्वयं के सदाचरण से कुपथगामी जीवों को भी धर्मानुकूल कर लेता है। मान-कषाय के वशीभूत होकर संसारी प्राणी निरंतर अपना संसार संवर्धित करता रहता है किंतु ज्ञानी व्यक्ति ऐसी कषायों का त्याग करके आत्म-कल्याण का उपाय सोचता है- कवि का ऐसा मानना है कि विनीत शिष्य सदैव शील का तत्परतापूर्वक पालन करता है।

स हित्वाऽग्राह्यमानं, जगादेत्यजः संगृह्य मानम्।।17।। भा. श.

शील के प्रभाव से जैसी शीतलता अंतरंग और बहिरंग में प्रकट होती है वैसी शीतलता हिम, चंद्रमा, गंगाजल और चंदन से भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक जीव भूतकाल की अपेक्षा से पापी ही

⁴ भा. श. 10

होता है, किंतु आत्मशुद्धि में निरत साधक दुष्कृत का त्याग करके आत्म-कल्याण में संलग्न रहता है और भविष्य को सुधारता है ⁵।

शील के अनतिचार पालन से विशुद्धि उत्पन्न होती है और विशुद्धि से ज्ञानी जीव क्षणभर में ही कर्म श्रृंखलाओं को ध्वस्त कर देता है ।

यद् भवेद् विपाकस्य, व्ययश्चायः सुखविपाकस्य॥25॥ भा. श.

पुनः ज्ञानोपयोग से कर्मों का संवर करके चंचल चित को अवरुद्ध करता है, तभी साधक की मुनि संज्ञा सार्थक होती है⁶। ज्ञानज्योति के सहारे ही सशरीरी होता हुआ भी यह जीव अपने रूपातीत शुद्ध स्वरूप को देख पाता है और आत्मज्ञान के धरातल पर ही संवेग का वृक्ष पल्लवित और पुष्पित होता है। भावनाशतक के रचयिता कविश्रेष्ठ आ. विद्यासागर जी साहित्य में प्रसिद्ध नव रसों में से शांत रस को सर्वाधिक पसंद करते हैं, अतः जहां संस्कृत साहित्यकारों ने अन्य रसों के विषय में मीमांसा की है, वहीं आचार्य श्री शांतरस में प्रवीण होना कवि का सर्वोत्कृष्ट लक्षण मानते हैं -

"सत्कवेः कविता निशान्तेन" भा. श. 30

इस चिंतन के पीछे आचार्यश्री का एक दूरगामी दृष्टिकोण अंतर्निहित दिखता है क्योंकि अन्य कवि जिसे सर्वोत्कृष्ट रस मानते हैं उससे तो संसार ही बढ़ता है, किंतु आचार्यश्री ने जिस शांत रस की पैरवी की है वह रस साहित्य के बोध के साथ-साथ संसार मार्ग को भी मोक्षमार्ग में परिवर्तित कर देता है। ऐसे मुनि में संवेग भावना की प्रमुखता होनी चाहिए **"मुनितात्मनि शान्तेन"**⁷ संवेग भावना के अन्य हिंदी पद्यानुवाद में लिखते हैं-

"संवेगरूप धन पा बन जा धनी रे!"॥ भा. श. 31

संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति ही मोक्ष की ओर जीव को उन्मुख करती है, अन्यथा जीव निरंतर सम्मोहित हो करके संसार चक्र में फंसता जाता है ⁸। संवेग भाव प्राणी को संसार कार्यों से विमुख करके त्याग

⁵ भा. श. 20

⁶ भा. श. 27

⁷ भा. श. 30

⁸ भा. श. 32

भावना की ओर अग्रसारित करता है, किंतु जो हिंसाजन्य और शास्त्र-विरुद्ध कदाचरण करता है, वह कर्म-जाल में और भी मजबूती से फंस जाता है ⁹। निजात्मा की भावना से परिपूर्ण और क्षणभंगुर शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर जो जीव तप करते हैं, वे ही इस नरभव को सफल कर पाते हैं ¹⁰। तपस्या साधक का अवश्यंभावी अंग है, परंतु जो साधक बाह्य तपस्या को ही सर्वस्व मानकर अंतरंग में कषाय से क्लेशित और आच्छादित है, उसका समस्त बहिरंग तप गजस्नानवत् व्यर्थ ही सिद्ध होता है, ऐसे साधक को नटवत् जानना और समझना चाहिए। साधक को अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त व्यक्ति का आचरण ही सुतप है ¹¹। सुतप के फल से ही अंतरंग में आत्म-वैभव को प्राप्त हुआ साधु साधुसमाधि की भावना से युक्त हो जाता है। वह यश, मान को तजकर निज धर्म में ही संस्थापित होता है ¹²। भावना शतक के 57 वें श्लोक के अंतर्गत वैयाव्रत भावना का उल्लेख करते हुए आत्म-कल्याण में संलग्न साधु को वैयाव्रती कहा है "पदेन जनपदः" अर्थात् जो तपस्वी अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए साधना में तल्लीन है वही व्यक्ति स्वयं की सेवा करने के कारण भी वैयाव्रती है।

यदि कोई त्याग मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाता है तो उसे सद्गृहस्थ बनने का भी आचार्यों ने उपदेश दिया है। गृहस्थ उद्योग के द्वारा देश को समृद्ध करता है ¹³। पुनः साधक-

स्तुता यतिपतिनाऽऽगता, वस्तुगताश्च दशा गतानागताः भा. श.

उन्हीं अतीत, अनागत और वर्तमान संबंधी समस्त शुद्ध आत्माओं को नमन कर अर्हद्भावना व्यक्त करता है ¹⁴। यह अर्हत् परमेष्ठी "दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापात्, क्षितिं सवत् क्षरं क्षरतः" वचनातीत, समर्थ, इंद्रियविजयी और आत्मरत होने से अविनाशी भी हैं ¹⁵

⁹ भा. श. 38

¹⁰ भा. श. 41

¹¹ भा. श. 46

¹² भा. श. 50

¹³ भा. श. 57

¹⁴ भा. श. 59

¹⁵ भा. श. 61

जो आचार्यभावना का चिंतन और मनन करते हुए उनके शुद्ध स्वरूप का विचार करता है, वह साधक को उनके गुणों के निकट ले जाने में हेतु बनता है¹⁶। आचार्य स्वकीय आत्मा में निवास करते हैं, वे अत्यंत निस्पृही, कर्मों के विध्वंसक हैं, उनकी सदैव वंदना ही आचार्यभक्ति भावना है। भावनाशतक के पद्यानुवाद में कवि लिखते हैं-

ज्ञाता बने समय के नीज-गीत गाते, तो भी कदापि मद को मन में नालाते।

वे ही अवश्य उवझाय वशी कहाते, भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों ना लाते।।71।। भा. श.

समस्त संघ को अध्ययन कराते हैं ऐसे उपाध्याय परमेश्वरी द्वादशांग का ज्ञान होने पर भी मदोन्मत्त नहीं होते, ऐसे उपाध्याय परमेश्वरी को भी कवि ने नमन किया है¹⁷। अपनी वाणी के माध्यम से वे अज्ञ और विज्ञ सभी को संतुष्ट कर देते हैं¹⁸।

कवि ने उपाध्याय परमेश्वरी की तुलना वैद्य से की है, "वैद्यो रोगविनाशीव" यह तुलना उचित है, क्योंकि जिस प्रकार वैद्य स्वयं के स्वास्थ्य का समुचित ध्यान रखते हैं और रोगी को भी औषधि के माध्यम से निरोगी कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार उपाध्याय परमेश्वरी आत्म-कल्याण के साथ-साथ अन्य भव्य जीवों को भी अपनी ज्ञान-रश्मि से सद् मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं¹⁹।

बहुश्रुतभावना में प्राणी जिनवाणी, जिनागम का चिंतन करते हुए कृतज्ञ-भाव धारण करता है, क्योंकि यह वाणी जिनमुखोद्भव होने से सर्वथा प्रामाणिक और वंदनीय होती है। वर्तमान पंचम-काल में साक्षात् अरहंत-परमेश्वरी का भरत-क्षेत्र के आर्य-खंड में अभाव होने से आगम ही सद् मार्ग दिखाते हुए श्रद्धा की ओर उन्मुख करता है। अतः यह बहुश्रुतभावना बहुमान का विषय है। वर्तमान में आगम को साधु का नेत्र कहा गया है। जिनागम से अनभिज्ञ प्राणी नवनिधि से संपन्न अर्थात् चक्रवर्ती के फल को भोगने के बाद भी दुर्गतियों में ही जाता है।

समता, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान ये साधु के छह आवश्यक हैं, जिन्हें वह अपने जीवनकाल में सदैव आवश्यक रूप से करते हैं। साधना में विवेक का होना अनिवार्य है। जो साधक

¹⁶ भा. श. 65

¹⁷ भा. श. 71

¹⁸ भा. श. 75

¹⁹ भा. श. 76

बहिरंगतप को तो साधना मानता है, किंतु जो अंतरंग में तमोगुण प्रधान कसाय भावों से युक्त होता है, उसका सारा तप व्यर्थ हो जाता है ²⁰। गृहस्थ के लिए प्रभावना की परिभाषा इस प्रकार है कि वह भूखे, प्यासे, रोगी मनुष्यों के लिए दान करके प्रभावना कर सकता है ²¹। इसी श्लोक के हिंदी पद्यानुवाद में लिखा है **"रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित जो विचारे, दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें"**।।90।। इसी धर्म प्रभावना से वह स्वयं संसार समुद्र को पार कर लेता है और अन्य जीवों को भी पार लगा देता है ²²। अन्य के दुख को जब स्वयं का दुख समझने का भाव अंतरंग में उत्पन्न हो जाता है तो उससे श्रेष्ठ कोई वात्सल्यभाव नहीं हो सकता है ²³। पुनः काव्य के अंतिम श्लोक में स्वयं को साधारण मनुष्य से विद्यासागर बनने का समग्र श्रेय अपने गुरु आ. ज्ञानसागर महाराज को दिया है और उनके प्रति अपना विनम्र भाव व्यक्त किया है ²⁴।

शतक के बाद 10 श्लोकों में मंगल भावनाएं व्यक्त की हैं, जिसमें रत्नत्रय का गुणगान किया है, सात्विकवृत्ति को प्रमुखता दी है, पुनः गुरु ज्ञानसागर जी का स्मरण किया है तथा समग्र भारत के निर्भय होने की कामना की है, धैर्यवान पुरुषों को नमन किया है। अपनी अल्पज्ञता अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की अल्पज्ञता के लिए क्षमा याचना की है और सबसे अंतिम श्लोक में इस शतक के समापन का स्थान और समय अंकित किया है।

अंतिम श्लोक में जिस उपयोग की बात कही है, वह जीव का चैतन्य-अनुविधायी परिणाम है। उसके माध्यम से जीव अपने योग को विशुद्ध करके उस अनंत आकाशवत् मोक्ष को प्राप्त करता है। अतः जिस प्रकार काव्य के आरंभ में मंगलाचरण द्वारा अर्हत परमेष्ठी का स्मरण किया है उसी प्रकार शतक के अंत में अरहंत परमेष्ठी के अंतिम निवास स्थान मोक्ष को भी स्मरण किया है ²⁵। जो धर्म का वास्तविक स्वरूप है उसका सम्यक् प्रचार-प्रसार भी मार्गप्रभावना का कार्य है, जिसे समीचीन रीति से साधक को करना चाहिए। उसी के फलस्वरूप कवि ने स्वयं इन 16 भावनाओं का चिंतन किया और उस चिंतन को एक दिशा देते हुए जन-सामान्य के लिए "भावनाशतक" जैसे अनमोल शतक की रचना की है।

²⁰ भा. श. 87

²¹ भा. श. 90

²² भा. श. 94

²³ भा. श. 100

²⁴ भा. श. 101

²⁵ भा. श. मंगलकामना, 10

भावनाशतक काव्य की पद्यात्मक संस्कृत रचना के अध्ययन करने में जो रसानुभूति होती है वही रसानुभूति आ. विद्यासागर जी महाराज द्वारा हिंदी में निबद्ध पद्यानुवाद में होती है। हिंदी पद्यानुवाद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि शायद कवि हिंदी भाषी हैं और हिंदी की उच्च शिक्षा भी ग्रहण की होगी, किंतु कवि दक्षिण भारत में जन्मे हैं और दीक्षा के उपरांत आपका समस्त जीवन उत्तर भारत में साधना में व्यतीत हुआ है और इस कारण कवि का हिंदी भाषा पर भी ऐसा अभ्यास है कि उसमें भी अल्प शब्दों में हिंदी के व्याकरणिक चमत्कार, साहित्यिक गंभीरता, दार्शनिक पक्ष रखकर भाषा के साथ क्रीड़ा करते हुए दिखते हैं। आचार्यश्री ने बहुविध जैन वाङ्मय का अध्ययन अल्प समय में किया है और उस वाङ्मय का बारम्बार चिंतन और मनन करने के बाद, आचार्यश्री ने जो निकष प्राप्त किया है, उसे अपनी कविता के माध्यम से सभी के सामने रखा। आचार्यश्री कृत समस्त साहित्य वस्तुतः उपलब्ध आचार्यों की वाणी का सारांश है जिसमें कवि ने अपनी प्रखर मेधा से नवीन उदाहरणों को जोड़ते हुए समृद्ध किया है और उसे सरल शब्दों में सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। ऐसे साहित्य को आचरण में उत्पन्न करने वाली प्रेरणा की दृष्टि से पाठकों को पढ़ना चाहिए।